Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 3 | ISSN : 2582-0095

जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार धर्म और नैतिकता

डॉ.संजय कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर.डी ऐंड डी.जे कॉलेज, मुंगेर विश्वविद्यालय,मुंगेर, बिहार।

Article Info
Volume 4 Issue 3
Page Number : 114-123
Publication Issue :
May-June-2021
Article History
Accepted : 20 June 2021
Published : 30 June 2021

शोधसारांश – कृष्णमूर्ति समझ (Understanding) को ही मौलिक मानते हैं। समझ ही सत्य का बोध है, समझ ही प्रज्ञा है, समझ ही धर्म है, समझ ही नैतिकता है, क्योंकि इनका अलग–अलग अस्तित्व न होकर सह अस्तित्व होता है।

मुख्य शब्द – कृष्णमूर्ति, धर्म, नैतिकता, मौलिक, बोध, अस्तित्व, सत्य।

जे० कृष्णमूर्ति के दर्शन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जे० कृष्णमूर्ति धर्म और नैतिकता को भिन्न न मानकर उसे एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह मानते हैं। वे धर्म को बोध और नैतिकता को उस बोध से उपजा व्यवहार मानते हैं। उनके अनुसार वास्तविकता का बोध ही धर्म है और उस बोध की अभिव्यक्ति ही वास्तविक नैतिकता है। स्पष्ट है कि वे नैतिकता को धर्म का साधन न मानकर उसे धर्म का अनिवार्य परिणाम मानते है। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि धर्म के घटित होने के पूर्व मनुष्य के जीवन में वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता है। धर्म के पूर्व जो नैतिकता होती है वास्तविक नैतिकता न होकर आरोपित नैतिकता होती है जिसे हम समाज से, संगठित धर्म की परम्परा से, समाज के पंडित, पुरोहित अथवा धर्माधिकारियों से प्राप्त करते हैं। समाज और संगठित धर्म के अधिकारी हमें सिखाते हैं कि उनके द्वारा निर्धारित नैतिक नियमों का पालन ही वास्तविक जिन्दगी का मार्ग है। हमें स्वयं यह पता नहीं होता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित है, क्या करणीय है और क्या अकरणीय । अतः समाज और संगठित धर्म जो कहता है हम उसे मानकर जीने लगते है। इस तरह हम एक पूर्व निर्धारित जिन्दगी जीने लगते हैं, जिसमें अनुकरण की बाध्यता रहती है। नैतिक नियमों के द्वारा समाज और संगठित धर्म हमें एक पूर्व निर्धारित व्यवस्था में ढालने की कोशिश करते हैं। वे इसके लिए दंड ओर पुरस्कार के सिद्धान्त का भी उपयोग करते हैं, क्योंकि ये प्रचारित करते हैं कि जो धर्म द्वारा अनुमोदित नैतिक नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करेगा, वह स्वर्ग का भागी होगा। और, जो इसकी अवहेलना करेगा, नैतिक नियमों का उल्लंघन करेगा, उसे ईश्वर नरक भेजकर दंडित करेगा । हम भी उनकी बातो को मान लेने में ही अपना कल्याण समझते हैं ।

चूँकि, इस मामले में हम स्वयं कुछ नहीं जानते हैं, इसलिए हम उनकी बातों पर पूर्णतया निर्भर हो जाते हैं। इस तरह संगठित धर्मों द्वारा प्रायोजित नैतिक जीवन ही हमारा आदर्श बन जाता है। हम सब उस प्रायोजित नैतिक जीवन के अनुरूप स्वयं को ढालने के अभियान में लग जाते हैं। सामान्यतया इसे ही हम धार्मिक जीवन की उपलब्धि का मार्ग मानते हैं। साथ ही हम यह भी मानते हैं कि जिस दिन हम स्थापित नैतिक नियमों के अनुरूप स्वयं को ढालने में पूर्ण सफल होंगें, उस दिन हमारा जीवन पूर्ण धार्मिक होगा। उस

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

दिन हम ईश्वर को जान लेंगे। उस दिन हम सत्य को उसकी पूर्ण नग्नता में देख पायेंगे। जीवन में तब मुक्ति होगी, पूर्णता होगी, समयातीत का अनुभव होगा, शांति और आनंद का साम्राज्य होगा। हम सब इसी उम्मीद में नैतिक जीवन को अपनाते हैं। एक हिन्दू का मन्दिर जाना, पूजा और प्रार्थना करना, विशेष मंत्रों का जाप करना, इच्छाओं पर नियंत्रण की कोशिश करना, ब्रह्मचर्य पालन का व्रत लेना अथवा संन्यस्त जीवन अपना कर संसारिकता से विमुख हो जाना और पहाड़ों अथवा गुफओं में जाकर ध्यान लगाना उसी तरह एक मुसलमान का मस्जिद जाना, पाँचो वक्त नमाज पढ़ना, हज करना, रमजान के महीने में उपवास करना, खैरात देनाय ईसाइयों का गिरजाघर जाकर प्रार्थना करना, जीसके वचन का पालन करना, बौद्धों का चार आर्य सत्य पर मनन कर अष्टांग मार्ग को अपनाना जैनियों द्वारा सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्य चरित्र को अपनाना एक लक्ष्य प्रेरित नैतिक क्रिया हैय क्योंकि इन क्रियाओं को सभी धर्म के लोग एक उलझन मुक्त, दुखविहीन, आनंदपूरित जीवन की प्रत्याशा में करते हैं। प्रत्येक धर्म के अवतार मसीहा, धर्म–गुरू और धर्म–ग्रंथ सदियों से यही आश्वासन देते रहे हैं कि धर्म द्वारा निर्देशित नैतिक जीवन ही एकमात्र कल्याण का मार्ग है। हम सब उन्हीं के कथनों और आश्वासनों पर विश्वास कर, उनके द्वारा निर्देशित जीवन शैली का अनुकरण करते हैं। जे० कृष्णमूर्ति के शब्दों में :

"For centuries we have been spoon-fed by our teachers, by our authorities, by our books, our Saints. We say, "Tell the all about it- what lies beyond the hills and mountains and the earth and we are Satisfied with their descriptions....we have lived on what we have been told.....".

आगे वे कहते हैं :–

"Throughout theological history we have been assured by religious leaders that if we perform certain rituals, repeat certain prayers or mantras, conform to certain patterns, suppress our desires, control our thoughts, sublimate our passions, limit our appetites and refrain from sexual indulgence, we shall, after sufficient torture of the mind and body, find something beyond this little life. And that is what millions of so called religious people have done through the ages, either in isolation, going off in to desert, or in to mountains or a wandering form village to village with a begging bowl, or in a group joining a monastery, forcing their mind to conform to an established pattern." 1

लेकिन जे० कृष्णमूर्ति सदियों से प्रचारित संगठित धर्मों के इस आश्वासन को, कि उनके द्वारा निर्धारित, निर्देशित नैतिक नियम मुनष्य को एक आदर्श जीवन प्रदान करती है भ्रमपूर्ण मानते हुए इसे पूर्णतया खारिज कर देते है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई, बौद्ध, जैन अथवा और जो भी संगठित धर्म है उससे इस मामले में जे० कृष्णमूर्ति का असहमत होना और वह भी ठोस तर्क और प्रमाणिक विश्लेषण के आधार पर, धार्मिक जगत की एक क्रान्तिकारी घटना है। जे० कृष्णमूर्ति की इस क्रान्तिकारी सोच से धर्म के एक नये अध्याय का प्रारंभ होता है।

अब हम यह देखेंगे कि जे० कृष्णमूर्ति कैसे संगठित धर्मों द्वारा दिये गये आश्वासनों का खंडन करते हैं। जे० कृष्णमूर्ति कहते हैं कि संगठित धर्मों द्वारा मनुष्य जाति पर नैतिक नियमों का आरोपण मनुष्य को उसकी स्वभाविक, सहज और प्रमाणिक जिन्दगी से दूर करती है। संगठित धर्मों द्वारा आरोपित नियम मनुष्य में द्वन्द्व और संघर्ष को जन्म देती है। मनुष्य जैसा है, उससे भिन्न संगठित धर्मों के अनुसार उसे जैसा होना

चाहिए वह वैसा बनने का प्रयास करने लगता है। यह प्रयास ही मनुष्य को द्वन्द्व और संघर्ष से भर देता है। मनुष्य की जो वस्तुस्थिति है और मनुष्य से जैसा होने की अपेक्षा की जाती हैं, मनुष्य इन्हीं दो स्थितियों के बीच झूलता रहता है। मनुष्य में यदि लोभ है, तो वह निर्लोभी होने का प्रयास करता है, यदि मोह है, तो निर्मोहीं होने का अभ्यास करता है। उसी प्रकार क्रोध के विपरीत अक्रोध का, हिंसा के विपरीत अहिंसा का घृणा के विपरीत प्रेम का अभ्यास करता है। इससे स्प्ष्टतः मनुष्य का व्यक्तित्व वह जो है और उसे जो होना चाहिए अर्थात् वस्तुस्थिति और आदर्श में विभाजित हो जाता है। वे कहते है कि एक खण्डित और स्वयं में टूटा हुआ विभाजित मानव कभी शान्ति को उपलब्ध नहीं हो सकता। एक खण्डित मानव अशान्त रहने लिए अभिशप्त है, क्योंकि उसके भीतर द्वन्द्व है। मनुष्य अपनी वास्तविकता का जितना इनकार करता है तथा अपनी वास्तविकता से भागते हुए अपने आदर्श के प्रति जितना प्रतिबद्ध होता है, मनुष्य का द्वन्द्व उतना ही जटिल और मजबूत होता है। वह उतना ही अशान्त होता है। उन्हीं के शब्दों में–

Conflict is the denial of what is or the running away from what is; there is no conflict other than that. Our conflict becomes more and more complex and insoluable because we do not face what is."[2]

जे० कृष्णमूर्ति द्वन्द्व की स्थिति को वास्तविक धर्म के विपरीत मानते हैं। उनके अनुसार जीवन में धर्म का आर्विभाव तब होता है जब मनुष्य का मन सभी प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त होता है। धार्मिक जीवन उनके अनुसार संघर्ष और समस्या से रहित जीवन है। उन्हीं के शब्दों में–

"A life without friction is the religious life. And a mind without friction, without conflict is a religious mind. When that mind acts, it has every problem dissolved; it has no problem."[3]

किन्तु यहाँ पर द्वन्द्व से जे० कृष्णमूर्ति का आशय भौतिक द्वन्द्व नहीं है। वे कहते हैं कि प्रकृति में भी द्वन्द्व है। क्योंकि प्रकृति में विरोधी सत्ता है। प्रकृति में स्त्री और पुरूष का द्वन्द्व है, अन्धकार और प्रकाश का द्वन्द्व है, दिन और रात का द्वन्द्व हैं, सृजन और विनाश का द्वन्द्व है किन्तु प्रकृति का द्वन्द्व हमारी समस्या नहीं है। हमारी समस्या है मानसिक द्वन्द्व, क्योंकि इसी के कारण हम अशांत हैं ।

वे कहते है कि हमारे मन में द्वन्द्व का अस्तित्व इसलिए है कि हम तुलना में जीते है। समाज और संगठित धर्मों ने हमें क्या सही है और क्या गलत हैं, क्या अच्छा है और क्या बुरा है, क्या नैतिक है और क्या अनैतिक है, की अवधारणा से लैस कर दिया है। हम उनकी अवधारणाओं से इस कदर प्रतिबद्ध और प्रभावित है कि वे जिसे अनैतिक कहते हैं हम उसका निषेध करते हैं और जिसे नैतिक कहते हैं हम उसका अनुकरण करते हैं। यही कारण है कि हम घृणा का निषेध करते है और प्रेम का अभ्यास करते हैं। हम हिंसा को दबा कर अहसक होना चाहते है, क्योंकि यही हमें सिखाया गया है। समाज की नैतिकता आदरणीय है, क्योंकि यह धार्मिक आदेशों द्वारा अनुमोदित है। अतः इस तरह की नैतिकता हमारे व्यक्तित्व को द्वैत के दलदल में फंसा देती है। हम एक स्वाभाविक और सहज स्थिति से च्युत हो एक अस्वाभाविक स्थिति का शिकार बन जाते हैं। आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुकरण से हमारा जीवन प्रमाणिक नहीं रह जाता है। अनुकरण हमारे जीवन को एक प्रकार की बेईमानी से भर देता है। हम अपनी वास्तविक जिन्दगी से भिन्न, एक आरोपित और बाध्यताभरी जिन्दगी जीने लगते है। यही हमारे द्वन्द्व और उलझन का कारण है। उन्हीं के शब्दों में :–

"You have a concept of what you should be and how you should act and all the time you are in fact acting quite differently so you see that principles beliefs and ideals must

inevitably lead to hypocrisy and a dishonest life..... Trying to become like somebody or like your ideal is one of the main causes of contradiction] confusion and conflict-"[4]

जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार विशिष्ट जीवन के चुनाव में ही द्वन्द्व निहित है क्योंकि चुनाव के साथ बहिष्कार की क्रिया भी होती है। जिस क्षण हम किसी एक का चुनाव करते हैं तो साथ–साथ हम अन्य का बहिष्कार भी करते हैं। इस तरह चुनाव विभाजन को जन्म देता है। हम जब किसी नैतिक नियम के अनुकरण में जीना प्रारंभ करते है तो जीवन का वह रूप जो उस नैतिक नियम के विपरीत होता होता है, उससे हमारा विरोध हो जाता है।

किन्तु मनुष्य कोई यंत्र तो है नहीं जो किसी निर्धारित नियम का पालन निंद्वन्द्व भाव से करता रहेगा। मनुष्य की कुछ अपनी निजी इच्छा और अनिच्छा भी होती है। यदि नैतिकता और निजी इच्छा में मेल रहता है तब कोई समस्या पैदा नहीं होती है, किन्तु यदि मनुष्य की निजी इच्छा और नैतिकता में विरोध रहता है तो मनुष्य स्वयं में विभाजित हो जाता है। एक तरफ उसकी निजी इच्छा उसे अपने तरफ खींचती है तो दूसरी ओर वह नैतिक होने के लिए संघर्ष करता है ऐसे में मनुष्य दो खण्डों में बँटकर जीने लगता है। जिस क्षण इच्छा मजबूत रहती है उस क्षण इच्छा जीवन पर हाबी हो जाता है और जिस क्षण नैतिक भावना मजबूत रहती है उस क्षण नैतिक भावना जीवन पर हावी रहता है। इस तरह मनुष्य का जीवन दो आकर्षणों के बीच एक सतत संग्राम बन जाता है। इस सतत् संग्राम के कारण मनुष्य का चित्त अशांत और उद्विग्न रहता है। जे० कृ ष्णमूर्ति के शब्दों में :–

''यदि आप अपने मन तथा हृदय के सम्पूर्ण कार्यकलाप को ठीक तरह से देखें, जैसे की आप आईने में स्वयं को देखते हैं, तब आपको दिखाई देगा कि किसी भी प्रकार का विभाजन, अलगाव या असंगति, फिर चाहें आन्तरिक हो या बाह्य, अन्ततः द्वन्द्व पैदा करता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या इसे समाप्त किया जा सकता है ? ताकि हममें न कोई विसंगति रहे न परस्पर विरोधी माँगें न इच्छाएँ रहे और न खण्डित मन की कोई द्वैतात्मक क्रिया ? व्यक्ति इस मैं (अपनी सारी महत्वाकांक्षाएँ, प्रवृतियाँ, विसंगतियाँ) तथा मैं नहीं (एक आदर्श, एक सूत्र, एक अवधारणा) के बीच पुल बनाता है। हम सदैव 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच की खाई पाटने का प्रयत्न करते और इसी में असंगति है, द्वन्द्व है और इस प्रकार हमारी सारी उर्जा नष्ट होती है। क्या मन इस विभाजन को समाप्त कर 'जो है' उसके साथ रह सकता है ? श्जो हैश उसे समझने में कोई द्वन्द्व नहीं है।''[5]

जे० कृष्णमूर्ति के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि वे सिर्फ स्वयं में पाई जाने वाली विरोधी इच्छाओं अथवा इच्छा और नैतिकता के बीच होने वाले संघर्ष के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते बल्कि उनके लिए वह कोई भी क्रिया अथवा प्रयास जो लक्ष्य प्रेरित होता है, अर्थात् जो किसी उद्देश्य अथवा आदर्श को पाने के लिए किया जाता है, मनुष्य के अस्तित्व को द्वन्द्व से भर देता है। अतः द्वन्द्व संघर्ष हमारी इच्छा, हमारी महत्वकांक्षा का परिणाम है क्योंकि दोनों का संबंध कुछ बनने कुछ होने, कुछ पाने से है। अर्थात् द्वन्द्व अहंकार की यात्रा से पैदा होता है। अहं तृप्ति की कोई भी क्रिया संघर्ष को जन्म देती है, जिसमें हम अपनी उर्जा के बहुत। बड़े हिस्से को गवाँ देते है। हमारी नैतिकता, हमारा अनुशासन हमारे समाज के नियम, हम जिस संगठित धर्म को अपना मानते है उस संगठित धर्म की परम्परा, और उनके द्वारा अनुमोदित धर्मादेश ये सब हमारे अंह प्रेरक तत्व है क्योंकि यह हमें कुछ बनने के लिए प्रेरित करती है। इन सबसे बंधकर हम कभी द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो सकते। उलटे यह हमारे द्वन्द्व और समस्या को बढ़ा देती है। उन्हीं के शब्दों में :–

"Our social, economic and so called life is a series of efforts..... why do we make effort ? It is not in order to achieve result, to become something, to reach a goal?..... If we want to alter ourselves, if we want to bring about radical change in ourselves, we make a tremendous effort to eliminate the old habits, to resist the habitual environmental influences and so on..... Is not all such effort the activity of the self? Is not effort self centered activity? If we make an effort from the centre of the self it must inevitably produce more conflict, more confusion, more misery. Yet we keep on making effort after effort. Very few of us realise that the self centered activity effort does not clear up any of our problems, on the contrary it increases our confusion and our misery and our sorrow. "[6]

स्पष्ट है जे० कृष्णमूर्ति नैतिक होने के सारे प्रयास को पाखंडपूर्ण और दिखावा मानते है। उनके अनुसार मनुष्य नैतिक होने का कितना ही प्रयास क्यों न करें वह कभी नैतिक नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रयास मात्र से हम सच्ची नैतिकता से दूर हो जाते है। आरोपित नैतिकता हमारी वास्तविकता को ढँक देती है। आरोपित नैतिकता एक मुखौटा है। जिससे हम अपना असली चेहरा, असली रूप को छुपाये रहते है। किन्तु दुर्भाग्य है कि सदियों से हम (संपूर्ण मानव जाति) जिस धार्मिक शिक्षा का शिकार हुए है उसका सारा जोर, सारी कोशिश, हम पर नैतिकता लादने की रही। है। उससे हम नैतिक तो नहीं हुए लेकिन हमारा संपूर्ण जीवन नैतिकता के ढ़ोंग में अवश्य विषाक्त हो गया। हमारा एक हिस्सा अपने ही दूसरे हिस्से लड़ने और उसे दबाने लगा। हम अपने भीतर के क्रोध, हिंसा, लोभ, मोह, घृणा, और द्वेष से लड़ने लगे। यह संघर्ष ठीक वैसा ही संघर्ष है जैसा हमारा एक हाथ हमारे दूसरे हाथ से संघर्ष करे । इस संघर्ष में चाहे जिसकी भी जीत हो लेकिन हमारी हार सुनिश्चित है। महान मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड ने भी कहा है कि हम अपनी जिस वृत्ति को दबाते हैं, रोकते हैं वह वृत्ति नष्ट या समाप्त नहीं होती, बल्कि वह दमित वृत्ति हमारे अचेतन में चली जाती है। हमारी सारी दमित वृत्तियाँ अचेतन में धकेल दी जाती हैं जहाँ से वे अपनी तृप्ति के लिए अनेक छद्म उपाय ढूंढती हैं। अतः दमन से हम वृत्तियों से मुक्त नहीं होते। दमन हमारे चित्त को विक्षिप्त बनाती है। दमन पागलपन को आमंत्रित करती है। तब प्रश्न उठता है, कि नैतिकता आखिर है क्या, और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

जे० कृष्णमूर्ति की दृष्टि में चित्त का निद्वन्द्व होना ही नैतिकता है। चित्त जब अखंडित होता है, संघर्ष रहित होता है तभी वह वास्तव में नैतिक होता है। क्योंकि यही शाँत और समाहित चित्त की अवस्था है। इसी अवस्थामें मनुष्य "Individual" होता है, क्योंकि इस अवस्था में मुनष्य "Undivided" होता है। इस अवस्था में मनुष्य अंह शून्य होता है जिसके कारण उसकी सारी क्रियायें भी अंहकार और फलाकांक्षा रहित होती है। यही पवित्रता है। उन्हीं के शब्दों में :–

Austerity does not lie in any outward symbol or act; wearing a loincloth or a monks robe, taking only one meal a day or living the life of a hermit. Such disciplined simplicity, however rigorous, is not austerity. It is merely an outward show without an inner reality. Austerity is the simplicity of inward aloneness, the simplicity of mind that is purged of all conflict, that is not caught in the fire of desire even the desire for the highest."[7]

इस तरह हम पाते हैं कि जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार नैतिकता समाज और धर्म द्वारा निन्दित वृति का दमन और उससे विपरीत वृति का आरोपण नहीं है, बल्कि नैतिकता समस्त वृति से मुक्ति है। यह कुछ बनने, कुछ होने की क्रिया से मुक्त स्वयं में विश्राम है अर्थात् नैतिक होने का अर्थ है Process of becoming से मुक्त हो State of being में होना । किन्तु जब जब वे कहते है कि नैतिकता कुछ होने, कुछ बनने की क्रिया से मुक्त हो स्वयं में स्थित होना है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यह मनुष्य की बिल्कुल निष्क्रिय अवस्था है। उनके अनुसार वृत्ति–मुक्त अवस्था ही वास्तविक क्रिया है। वृत्ति अंहकार से पैदा होती है, अतः एक अंहकार मुक्त व्यक्ति ही क्रिया के लिए स्वतंत्र होता है। जे० कृष्णमूर्ति अपने दर्शन में Action और Reaction अर्थात् क्रिया और प्रतिक्रिया इन दों शब्दों का अक्सर प्रयोग करते है। उनके अनुसार अपनी इच्छा अथवा महत्वाकांक्षा के पीछे भागना प्रतिक्रिया है, क्योंकि यह क्रिया स्वतंत्र न होकर हमारी कामना से बंधी हुई है। यह क्रिया हमारी वासना के कारण है। उसी प्रकार समाज और धर्म द्वारा निर्धारित नैतिक नियम का अनुकरण भी प्रतिक्रिया है, कहने का अर्थ वह कोई भी क्रिया जो हमारी कामना से, हमारे अहंकार से प्रभावित और प्रेरित होता है, वह प्रतिक्रिया है। क्रिया का जन्म तो तब होता है जब हम पूर्णतः स्वतंत्र होते है और जब हमारी क्रिया कारण रहित होती है। उन्हीं के शब्दों में :–

While the mind functions with in the field of the 'me' and the mine' which is merely reaction, there can not be wisdom- Wisdom is a state of spontaneity, which has no centre, which has no accumulating entity.[8]

"When the mind is without activity, there is action; this action is without cause and only then is there bliss."[9]

वे कहते है कि कामना से प्रभावित और प्रेरित क्रिया स्वतंत्र न होकर अतीत से बंधी होती है, क्योंकि कामना का जन्म अतीत से होता है। कामना अतीत के प्र अनुभव को पुनः पाने की क्रिया है। कामना के माध्यम से हम अपने अतीत को ही दुहराना चाहते है। अतः वह सारी क्रिया जो किसी अतीत से, किसी विचार, सिद्धान्त अथवा धार्मिक आर्दश से बँधा होता है, क्रिया न होकर प्रतिक्रिया होती है। ऐसी क्रिया किसी अतीत अथवा सिद्धान्त का प्रत्युत्तर होता है। ऐसी क्रिया कभी सत्य को उद्घाटित नहीं करती । अतः प्रतिक्रिया न तो नैतिकता है, न धार्मिक क्रिया है। प्रतिक्रिया से न तो विश्व में कोई सुधार संभव है और न ही स्वयं में यह कोई मौलिक परिवर्तन लाता है। प्रतिक्रिया, क्रिया से पलायन है। एक प्रभावित मस्तिष्क इच्छाओं, वासनाओं, विश्वासों और नैतिक आदर्शों से बंधा हुआ मस्तिष्क, दूसरे शब्दों में एक परतंत्र मस्तिष्क कार्य करने के लिए स्वतंत्र न होकर कार्य करने के लिए परतंत्र होता है। कार्य करना उसकी विवशता होती है। जे० कृष्णमूर्ति ऐसी परतंत्र क्रिया को ही प्रतिक्रिया की संज्ञा देते है। वे कहते है :–

"There can not be a world transformation] a revolution] as long as action is based on ideas; because action then is merely reaction"..... [10]

"As long as action is the outcome of the past, action can never be free; and only in Freedom can you discover what is true. What happens is that as the mind is not free, it can not act; it can react only."..... [11]

"It is only when the mind is Free of idea and belief that it can act rightly. "[12]

इस तरह हम पाते है कि इनके अनुसार सिर्फ क्रिया करना ही नैतिकता है। प्रतिक्रिया बंधी हुई क्रिया होने के कारण अनैतिक है। सारतः बंधन ही अनैतिकता और मुक्ति ही नैतिकता है।

अब प्रश्न उठता है कि हम प्रतिक्रिया से अर्थात् समाज और धर्म द्वारा आरोपित उस नैतिकता से जो हमारे भीतर द्वन्द्व और संघर्ष को जन्म देती है, क्यों बंधे हुए हैं? हम क्यों समस्त दबाब से मुक्त हो, स्वतंत्र रूप से जीने और व्यवहार करने में समर्थ नहीं हैं ? वह कौन सी शक्ति है जो हमें इन बंधनों में बाँधे रहती है ? इससे जुड़ा एक और सवाल यह भी उठ खड़ा होता है कि समाज और धर्म के नियमों का उल्लघन, उसका प्रतिकार क्या समाज में अराजकता और नियमहीनता नहीं फैलायेगी ? जे० कृष्णमूर्ति नियम और कानून से मुक्त समाज में कैसी नैतिकता लाना चाहते हैं ? एक नैतिकता विहीन समाज का स्वरूप कैसा होगा ? क्या यह एक बर्बर और असभ्य समाज नहीं होगा ?

किन्तु जे० कृष्णमूर्ति के दर्शन से ऐसा निष्कर्ष निकालना जल्दबाजी होगी । इसका उत्तर पाने के लिए हमें जे० कृष्णमूर्ति द्वारा ''नैतिकता से बंधन'' की व्याख्या और ''बंधन मुक्त नैतिकता'' की अवधारणा दोनों से परिचित होना होगा ।

'नैतिकता से बंधन' की व्याख्या करते हुए कहते है कि मुनष्य नैतिकता के माध्यम से स्वयं से भागना चाहता है। नैतिकता और कुछ नहीं 'स्वयं से' जैसा वह है' उससे पलायन की क्रिया है। किन्तु, प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्यों अपनी वास्तविकता से भागना चाहता है। क्यों वह जैसा है वैसा स्वीकार करना नहीं चाहता। जे० कृष्णमूर्ति कहते हैं कि इसका कारण भय है। मनुष्य अनेक प्रकार के भय से ग्रसित है। जीवन के कई रूप उसे भयभीत किये हुए है। मनुष्य अपने जीवन की झणभंगुरता से भयभीत है, मनुष्य अपने जीवन में घटित होन वाली दुर्घटनाओं से भयभीत है। वह संबंधों के टूटने और उससे पैदा होने वाले अकेलेपन के दुख से भयभीत है। वह अपनी सीमित शक्ति और अनहोनी के समक्ष अपनी असमर्थता से भयभीत है। इसके अलावे वह जैसा है उस रूप में समाज से उसे अस्वीकृत होने का भय है। मनुष्य अपने समाज और अपने धर्म के आदेशों से इसलिए बंधता है क्योंकि बिना इसे स्वीकार किये वह अपने समाज में न तो प्रतिष्ठित होता है और न ही अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। मनुष्य इसलिए भी धर्म द्वारा अनुमोदित आदेशों को पालन करता है, क्योंकि संगठित धर्मों के प्रभाव में आकर वह ईश्वर में विश्वास करता है। उसे लगता है कि यदि वह धर्म द्वारा निर्देशित नैतिकता का पालन नहीं कर रहा है तो वह पाप कर रहा है और ईश्वर चूँकि सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है अतः ईश्वर उसे किसी अनहोनी अथवा अप्रिय अवस्था से बचायेगा । मनुष्य धर्म द्वारा निर्धारित नैतिकता का पालन इसलिए भी करता है क्योंकि उसके मन में यह धारणा बनी रहती है कि इसके पालन से वह एक ऐसे विराट अनुभव को पा लेगा, जिसकी अनुभूति के बाद जीवन का सारा दुख मिट जायेगा। वह स्वतंत्रता और पूर्णता को पा लेगा। विभिन्न धर्मों ने इसे ही मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति, ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश, ईश्वरत्व की प्राप्ति इत्यादि नामों से पुकारा है। उन्हीं के शब्दों में :

"First of all, why do we want to change what is, or bring about a transformation? Because what we are dissatisfied; it creates conflict, disturbance; and disliking that state, we want some thing better, some thing nobler, more idealistic. So, we desire transformation. "[13]

इस तरह से जे० कृष्णमूर्ति यह कहना चाहते है कि आरोपित नैतिकता को हम या तो अप्रतिष्ठा के भय से या असुरक्षा के भय से अथवा किसी प्रलोभनवश अपनाते हैं । किन्तु भयवश अथवा प्रलोभन वश जो क्रिया होती है वह स्वतंत्र क्रिया नहीं हैं और जो क्रिया स्वतंत्र न हो, किसी बाध्यतावश किया गया हो वह तो नैतिक

क्रिया के अन्तर्गत आती ही नहीं है। नैतिक क्रिया एक ऐच्छिक क्रिया है। अर्थात् नैतिक क्रिया अपनी स्वेच्छा से, अपनी स्वतंत्र संकल्प शक्ति से किया गया कार्य है।

अब प्रश्न उठता है कि हमें वह स्वतंत्रता हासिल कैसे हो जिससे हमारी क्रिया प्रतिक्रिया न होकर सिर्फ क्रिया हो? वे कहते है कि जीवन में वास्तविक नैतिकता का अविर्भाव तब होता है जब हम स्वतंत्र होते है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ सारी वृतियों से स्वतंत्रता, सारे सिद्धान्तों, धारणाओं और विश्वासों से स्वतंत्रता है। जब तक हम स्वतंत्र नहीं होते तब तक हम नैतिक हो ही नहीं सकते। क्योंकि नैतिकता का अर्थ है सत्य को स्वयं से जानना । जब हम क्या सही है और क्या गलत है इसे अपनी प्रज्ञा से अपनी बोध शक्ति से जानते है तो गलत से हम सहज ही मुक्त हो जाते हैं । फिर इस मुक्ति के लिए प्रयास करने का औचित्य नहीं रह जाता है क्योंकि हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके है कि प्रयास से हम कभी हिंसा को, घृणा को, लोभ अथवा दुख को न तो मिटा सकते है ओर न ही अहिंसा, प्रेम, र्निलोभ और आनंद का सृजन कर सकते है। उन्हीं के शब्दों में :–

"It is truth that frees not your effort to be free".[14]

"Effort is the very denial of understanding, and it is only the quite mind the simple mind, the mind that is still, that is not overtaxed by its own effort. Only such a mind shall understand, shall see truth".

स्पष्ट है जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार स्वतंत्र होने के प्रयास से कभी स्वतंत्रता को उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार प्रयास मुक्ति का विरोधी है। प्रयास हमें किसी लक्ष्य से बाँधता है। चूँकि लक्ष्य की उत्पत्ति हमारे अंहकार से, हमारे कुछ होने की भावना से पैदा होती है, चूँकि प्रयास अंहकार की ही क्रिया है, अतः प्रयास मुक्ति का बाधक है।

तो प्रश्न उठता है कि कैसे हम उस स्वतंत्रता को पा सकते हैं, दूसरे शब्दों में, कैसे हम उस समझ, उस प्रज्ञा को पा सकते हैं जिससे मुक्ति संभव हो पाती है। जे० कृष्णमूर्ति कहते है कि इस प्रश्न का उत्तर कोई दूसरा नहीं दे सकता । दूसरों का उत्तर पुनः हमारी निर्भरता को, हमारी परतंत्रता को जीवित रखती है। अतः दूसरों के उत्तर से हम कभी स्वतंत्र नहीं हो सकते। वे कहते है कि–

इस प्रश्न का उत्तर के रूप में हम किसी मार्ग अथवा विधि को पाना चाहते है।

"Freedom comes without compulsion] without resistance, without struggle."[15]

किन्तु यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वतंत्रता सत्य का अनिवार्य परिणाम है, सत्य ही हमें मुक्त करता है, सत्य से ही जीवन में समझ और शांति का अर्विभाव होता है।

इस तरह जे० कृष्णमूर्ति सत्य के लिए समझ और शांति के लिए किसी विधि अथवा मार्ग का अनुमोदन नहीं करते है। उनके लिए सत्य किसी प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। वे कहते है कि कोई भी विधि अथवा मार्ग प्रयास और अनुकरण की माँग करता है, क्योंकि बिना प्रयास और अनुकरण का कोई भी मार्ग अथवा विधि व्यर्थ होता है। पुनः मार्ग अथवा विधि किसी उद्देश्य के लिए होता है, बिना उद्देश्य द्य का भी मार्ग की कोई प्रासंगिकता अथवा औचित्य नहीं होता है। इस तरह मार्ग अथवा विधि में प्रयास अनुकरण और उद्देश्य तीनों निहित रहता है। प्रयास के बिना गति संभव नहीं है। अतः अनुकरण के लिए प्रयास का होना आवश्यक है। किन्तु द्य अनुकरण के लिए सिर्फ प्रयास का होना ही प्रयाप्त नहीं है, क्योंकि प्रयास अथवा गति की दिशा अनिर्धारित या अराजक भी हो सकती है, अतः अनुकरण के लिए प्रयास की दिशा का निर्धारित और नियमबद्ध होना भी आवश्यक है। अतः अनुकरण ही अनुशासन है। अतः विधि का अर्थ है किसी उद्देश्य के लिए किसी निर्धारित दिशा अथवा नियम के पीछे चलना। किन्तु जे० कृष्णमूर्ति का सदियों की मान्यता के खिलाफ यह

क्रान्तिकारी उद्घोष है कि सत्य के लिए किसी विधि का अवलम्बन हमें सत्य से दूर ले जाता है। सत्य की खोज सत्य से पलायन है। वे कहते है कि धर्म भी एक प्रकार का पलायन है, ईश्वर की खोज अथवा किसी परम और स्थायी सत्ता की खोज भी एक पलायन है। मनुष्य अपनी वास्तविकता से परिचित होने के बजाय या तो स्वयं को नियमों के अनुकरण में उलझाये हुए है या फिर अनुकुल संवेदना में स्वयं को व्यस्त किए हुए है। वे अनुकूल संवेदना के पीछे भागने और धार्मिक अनुशासन का कठोरतापूर्वक पालन में कोई अन्तर नहीं मानते है क्योंकि उनके लिए संसारिक और तथाकथित धार्मिक कृत्य कुछ न कुछ पाने के लोभ से किया जाता है। अतरू दोनों में हम भले ही अन्तर मानते हो लेकिन उनके अनुसार जिस तरह से नशा का सेवन स्वयं को भुलाने या स्वयं से भागने की क्रिया है, उसी प्रकार ईश्वर की खोज भी स्वयं से पलायन ही है। उन्हीं के शब्दों में :–

"The search for the beyond is merely an escape from what is and if you want to escape then religion of God is as good as an escape as drink. Don't object to this putting drink and God on the same level- All escapes are on the same level whether you escape through drink, through Puja or whatever it be". [16]

वे कहते है कि ''हममें से अधिकांश स्वयं से निरंतर भागने की कोशिश में रहते है.....स्वयं को भुलाने की कोशिश में कुछ कला की ओर प्रवृत होते है, कुछ नशाखोरी करने लगते है, जबकि कुछ मन को लुभाने वाला रहस्यपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों का अनुकरण करने लगते है।''[17]

किन्तु वे कहते है कि सत्य हमसे कहीं दूर नहीं है। अतः इसे किसी विधि के माध्यम से कभी नहीं जाना जा सकता है। सत्य तो हमारी वास्तविकता है। अतः सत्य भविष्य में नहीं है। सत्य तो वर्तमान में है। चूँकि सत्य का अस्तित्व वर्तमान में होता है। अतः सत्य के लिए समय की कोई आवश्यकता नहीं है। सत्य तो अभी इस क्षण में है। उन्हीं के शब्दों में :–

"Truth is not a thing to be attained; it is seen or it is not seen, it can not be perceived gradually" [18]

जब कृष्णमूर्ति के अनुसार सत्य हमेशा नया होता है। वह हमेशा अज्ञात और अज्ञेय होता है, उसे जानने की हर कोशिश बेकार जाती है, क्योंकि कोशिश के द्वारा हम उसे कभी नहीं जान सकते। सत्य का उदय होता है, किन्तु सत्य का उदय तब होता है जब मन माँग रहित होता है, जब वह विचारों में उलझा न होकर पूर्णतः खाली और शून्य होता है। अतः सत्य हमारी आकांक्षा का परिणाम नहीं है, हम उसे आमंत्रित नहीं कर सकते हम जब पात्र होते है तो वह स्वतः प्रकाशित हो उठता है। यही बातें स्वतंत्रता, नैतिकता, शांति और प्रेम के लिए भी सत्य है क्योंकि स्वतंत्रता, नैतिकता, शांति और प्रेम ये सभी सत्य की छाया हैं। ये सब सत्य के अनिवार्य परिणाम हैं। स्वतंत्रता के विषय में वे कहते हैं कि स्वतंत्रता बंधन के खिलाफ संघर्ष से प्राप्त होने वाली अवस्था नहीं है, स्वतंत्रता यदि प्रारंभ में नहीं है तो वह अन्त में भी नहीं होगी । अतः बंधन से संघर्ष उपाय नहीं है, बंधन की समझ, उसका सचेत अवलोकन ही मुक्ति का उपाय है। उन्हीं के शब्दों में :–

"The moment we struggle against bondage, we create another bondage. But if we can understand the whole psychological process of bondage- then in that very understanding there is freedom; we do not have to become free".[19]

नैतिकता अथवा सद्गुण के विषय में वे कहते है–

"Virture is not accumulated resistance; it is the spontaneous awareness and the understanding of 'what is' ...Virtue is not conflict and achievement, prolonged practice and result; but a state of being which is not the out come of self projected desire. .....Through practice, compulsion, resistance the mind may make itself quiet but such a discipline destroys virture of the heart, without which there is no peace, no blessing, for virtue of the heart is understanding". [20]

इस तरह हम पाते हैं कि वे समझ (Understanding) को ही मौलिक मानते हैं। समझ ही सत्य का बोध है, समझ ही प्रज्ञा है, समझ ही धर्म है, समझ ही नैतिकता है, क्योंकि इनका अलग–अलग अस्तित्व न होकर सह अस्तित्व होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. जे. कृष्णमूर्ति, फ्रीडम फ्रॉम द नौन, पृ. 2–3
2. जे. कृष्णमूर्ति, कमेन्ट्रीज ऑन लिविंग, (फर्स्ट सीरिज), पृ. 217
3. जे. कृष्णमूर्ति, टॉक्स बाय कृष्णमूर्ति इन इंडिया, पृ. 10
4. जे. कृष्णमूर्ति, ऑन एजुकेशन
5. जे. कृष्णमूर्ति, गस की उड़ान (अनुवादित), पृ. 62–63
6. जे. कृष्णमूर्ति, द फर्स्ट एण्ड लास्ट फ्रीडम, पृ. 52
7. जे. कृष्णमूर्ति, कमेन्ट्रीज ऑन फ्रीडम (थर्ड सीरिज), पृ. 33
8. जे. कृष्णमूर्ति, सेविंग्स ऑफ जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 223
9. जे. कृष्णमूर्ति, कमेन्ट्रीज ऑन लिविंग (फर्स्ट सीरिज), पृ. 242
10. जे. कृष्णमूर्ति, सेयिंग्स ऑफ जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 2
11. वही
12. वही
13. जे. कृष्णमूर्ति, ह्वाट आर यू डुडिंग विद योर लाईफ, पृ. 179
14. जे. कृष्णमूर्ति, सेविंग्स ऑफ जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 64
15. जे. कृष्णमूर्ति, टाक्स विथ स्टूडेन्ट्स, पृ. 175
16. जे. कृष्णमूर्ति, सेयिंग्स ऑफ जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 70
17. वही
18. वही
19. वही
20. जे. कृष्णमूर्ति, कामेन्ट्रीज ऑन लिविंग, पृ. 28